International Journal of New Media Studies *ISSN: 2394-4331*
Vol. 4 Issue 2, July-Dec., 2017

योग दर्शन में वर्णित व्यक्तिगत आचार

Joginder Singh

Assistant Professor, Govt College, Hansi

योग हिन्दू–जाति की सबसे श्रेष्ठ आध्यात्मिक निधि है। सब दर्शनों का यह अभिमत मन्तव्य है कि योग की प्रक्रिया मोक्ष का मुख्य साधन है। इसलिए इसके विषय में वाद–विवाद के लिए स्थान नहीं है। योग को दर्शन का रूप देने वाले महर्षि पतञ्जलि का योगमार्ग 'राजयोग' के नाम से प्रसिद्ध है।

मनुष्य तब तक आध्यात्मिक सत्यों का अनुभव नहीं कर सकता जब तक उसका चित्त कलुषित है और उसकी बुद्धि दूषित विचारों से युक्त है। चित्त अथवा मन की इसी शुद्धता तथा आत्म–प्रकाश की प्राप्ति के लिए योग ने आठ प्रकार के साधनों का निर्देश किया है। इन्हीं अष्टविध साधनों में नियम को व्यक्तिगत आचार के रूप में जाना जाता है।

नियम

सदाचरण रखने को ही नियम कहते हैं।
'नियमयन्ति प्रेरयन्ति इति नियमाः।'[1]
इस व्युत्पत्ति के अनुसार नियम प्रवृत्तिमूलक होते हैं। नियक का शाब्दिक अर्थ है – रोक लगाना, अवरोध करना, वशीकरण करना, सीमित करना, व्रत, प्रतिज्ञा, आत्म निग्रह, धार्मिक अनुष्ठान आदि।[2]

'शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः।'[3]

अर्थात् पतञ्जलि ने शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान व्यक्तिगत आचार रूपी इन पाँच नियमों को साधक की आत्मशुद्धि में सहायक माना है। इनका पालन करने से योगी को लाभ होता है।

शौच

व्यक्तिगत आचार के रूप में शौच का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके बिना व्यक्तिगत शुद्धि वर्जित की गई है। शौच के दो प्रकार का है – बाह्य शौच एवं आभ्यन्तर शौच।[4]

बाह्य शौच

शास्त्रों के अनुसार–'तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम।'[5] अर्थात् मिट्टी जलादि से होने वाली तथा पवित्र भोजनादि से होने वाली पवित्रता को बाह्य शौच कहते हैं। साधक की साधना भूमि मिट्टी एवं गोबर आदि से लिपी हुई होनी चाहिए। गोबर में कृमीनाशक तत्त्व निहित हैं। अन्यथा वे अतिसूक्ष्म कृमिनाशक हवा के द्वारा नासिका एवं मुख द्वारा शरीर के अन्दर प्रविष्ट होकर अनेक रोग उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार खाने के पात्र एवं वस्त्रादि की स्वच्छता मृत्तिका साध्य कही गई है। व्यास ने मृज्जलादिजनितम् वाक्य द्वारा उपर्युक्त आशय की ओर संकेत किया है।

पतञ्जलि के कथनानुसार–'शौचास्वाङ्गजुगुप्सा परैस्संसर्ग।'[6] अर्थात् शौच के अनुष्ठान से अपने शरीर के अंगों में ग्लानि उत्पन्न होती है अन्य व्यक्ति के संसर्ग का अभाव हो जाता है।

'सत्त्वशुद्धि–सौमनस्यैकाग्रयेन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।'[7] अर्थात् इस प्रकार बाह्य शौच की सिद्धि सूचक फल का निरूपण करते हैं कि आभ्यन्तर शौच की सिद्धि होने पर सत्त्वशुद्धि, सौमनस्य, एकाग्रय, इन्द्रियजय तथा आत्मदर्शन योग्यता ये पाँच फल प्राप्त होते हैं।

---

1 योग सुधाकर, पृ० 43

2 (क) संस्कृत साहित्यकोष, आप्टे, पृ० 529
(ख) संस्कृत धातुकोष, सम्पादक युद्धिष्ठर मीमांसक, पृ० 96

3 योगसूत्र 2/32

4 शौचं द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तर च। रामानन्दयति, पृ० 31

5 व्यास भाष्य, योग सूत्र 2/32 व्याख्या, श्रीमत् स्वामी हरिहरानन्द आरण्य, पृ० 250

6 योग सूत्र 2/40

7 योग सूत्र 2/41

आभ्यन्तर शौच

आभ्यन्तर पवित्रता अर्थात् मानसिक पवित्रता या शुद्धि का अर्थ है कि चित्त के राग द्वेष आदि का प्रक्षालन करना[8] अर्थात् शारीरिक एवं मानसिक शुद्धि से तात्पर्य शौच से है। मानसिक शौच के द्वारा चित्त के मलों को दूर किया जाता है। ये मल छः प्रकार के हैं। शौच से मनुष्य को स्वास्थ्य लाभ होता है जिससे चित्त प्रसन्न होता है। प्रसन्न चित्त एकाग्रता को प्राप्त करता है और एकाग्रता प्राप्त होने पर इन्द्रिय विजय की सिद्धि प्राप्त होती है। इन्द्रिय विजय होने से आत्मदर्शन की योग्यता चित्त को प्राप्त होती है। इस प्रकार का फल शौच में निष्ठा से प्राप्त होता है। आत्मसाक्षात्कार के इच्छुक मनुष्य को बाह्य व आभ्यन्तर शौच का अनुष्ठान करते रहना चाहिए।

सन्तोष

व्यक्तिगत आचार में द्वितीय स्थान पर सन्तोष का नाम लिया जाता है। सन्तोष से अभिप्रायः है कि –

'सन्तोषस्तुष्टिः'[9]

अर्थात् जो वस्तु हम प्राप्त कर चुके हैं उससे अधिक की लालसा न करना। सन्तोष केवल भौतिक पदार्थ विषयक है, आध्यात्मिक पदार्थ विषयक नहीं। सन्तोष से साधक के चित्त में एकाग्रता आती है। क्योंकि व्यक्ति तब दुःखी होता है जब वह किसी वस्तु को प्राप्त करना चाहता है और वह उसे नहीं मिलती। जब वह अधिक वस्तुओं को पाने की इच्छा ही नहीं करेगा तो उसे दुःख का अनुभव नहीं होगा और वह चिंतामुक्त होकर साधना मार्ग में बढ़ता रहेगा।[10]

सन्तोष के द्वारा अलौकिक सुख की प्राप्ति होती है जो भौतिक सुख से कहीं अधिक होता है। महर्षि पतञ्जलि का कथन है कि –

'सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः'

अर्थात् सन्तोष के प्राप्त होने पर उत्तम सुख की प्राप्ति होती है। सन्तोष का अभ्यास आभ्यन्तर शौच के पश्चात् ही हो सकता है। जब तक दूसरों के सुख वैभव को देखकर सहज उत्पन्न होने वाली द्वेष आदि वृत्तियाँ आभ्यन्तर शौच के द्वारा नष्ट नहीं हो जाती, तब तक साधक अपनी वर्तमान परिस्थिति से सन्तुष्ट रहते हुए योग साधना नहीं कर सकता। इसलिए शौच के पश्चात् सन्तोष का उपदेश दिया गया है। इस प्रकार सन्तोष में जो इच्छा भाव होता है वह भौतिक पदार्थ विषयक होता है। इससे मुमुक्ष की मोक्षेच्छा प्रतिबद्ध नहीं होती अपितु बलवती होती है।

तप

रोजयोग में पतञ्जलि के मतानुसार तप के फल के विषय में वर्णन मिलता है। तप की निष्ण प्राप्त होने पर तमांगुण मुक्त अशुद्धियों का आवरण रूपी मल नष्ट होने पर शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि प्राप्त होती है।[11] भाष्यकार ने तप का अर्थ क्षुधा–पिपास,सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख, मान–अपमान आदि द्वन्दों को सहन करना तप कहा है।[12] इनके अतिरिक्त व्रत भी तप के अन्तर्गत आते हैं। तप के द्वारा अशुद्धि नामक आवरण रूपी मल के नाश होने पर शरीर रूपी सिद्धियाँ अर्णिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा आदि की प्राप्ति होती है। इन्द्रिय रूपी सिद्धियाँ दूर से श्रवण, दर्शनादि की प्राप्ति करती हैं। इस प्रकार कायेन्द्रिय सिद्धि–तप की स्थिरता की सूचक है। भाव यह है कि अशुद्धियाँ अधर्म हैं जो तमस् गुण कहा जाता है। जब तक पूर्णतया सिद्ध हो जाता है। तो अशुद्धि का क्षय हो जाता है।[13] पूर्वकथित द्वन्द्वों की स्थिति में भी तप के द्वारा साधक स्थिरता को प्राप्त कर सकता है। इससे शरीर निर्मल एवं हल्का हो जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में तीन प्रकार का तप कहा गया है। कायिक, वाचिक और मानसिक तप।

---

[8] आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्। व्यास भाष्य, योग सूत्र 2/32 पर, व्याख्या श्रीमत् स्वामी हरिहरानन्द आरण्य, पृ० 250

[9] भोज वृत्ति, पृ० 32

[10] सन्तोषः सन्निहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा। व्यास भाष्य–2/32

[11] कायेन्द्रिय सिद्धि शुद्धि क्षयन्तापसः। योग सूत्र–2/43

[12] तपो द्वन्द्वसहनम्।
द्वन्द्व च जिघत्सापिपासे शीतोष्णं स्थानासने काष्ठमौनाकारमौने च।
व्यास भाष्य, 2/32, पृ० 282

[13] निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्धयावरणमलम्।
तदावरणमलापगमात कायासिद्धिरणिमाधा तथेन्द्रियसिद्धिर्दूराछ्रवणदर्शनाघोति।
व्यास भाष्य, 2/43

कायिक तप

'देवद्विज गुरू प्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रहमचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।[14]

अर्थात् शारीरिक तप वरिष्ठ जनों, गुरूजनों एवं ज्ञानीजनों के पूजन से, पवित्रता, सरलता, ईमानदारी आदि गुणों को अपनाकर ब्रह्मचर्य और अहिंसादि व्रतों के पालन से होता है।

वाचिक तप

जो शब्द दूसरों को बुरे लगें, ऐसे शब्द न बोलना। जो सत्य हों, प्रिय हों, और जो हितकर हो उसे बोलना तथा नियमित रूप से वेदों का पाठ करना वाचिक तप कहलाता है।

मानसिक तप

मन की प्रसन्नता, सौम्यता, शान्तभाव, भगवत् चिन्तन करने का स्वभाव, आत्म संयम और मन की पवित्रता तप कहलाता है।

बलदेव मिश्र के अनुसार तप हित, मित, मेध्ययुक्ताहार है, चान्द्रायणदि व्रत नहीं, क्योंकि इनमें धातु वैषम्य होता है। उनके अनुसार तप का अर्थ शरीर एवं इन्द्रियों को इतना अधिक क्षीण करना नहीं है कि जिससे धातु वैषम्य के कारण शरीर योग साधना के लिए असमर्थ हो वैषम्य न हो।[15]

'तप उपवाससादिनां कायशोषणम्'[16]

अर्थात् नारायण तीर्थ के अनुसार – इनसे अलग उपवास आदि के द्वारा होने वाले शरीर के शोषण को तप कहा है। इन सभी तपों के फल की इच्छा को छोड़कर श्रद्धापूर्वक जो तप किया जाता है वह सात्विक तप है।[17]

'कामेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयान्तपसः।'[18]

अर्थात् तप के द्वारा अशुद्धियों का क्षय हो जाने से शरीर एवं इन्द्रियों की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

स्वाध्याय

'स्वस्थ अध्ययनम्' अर्थात् अपने आन्तरिक अध्ययन को स्वाध्याय कहा जाता है। अन्तर्मुखी होकर अपने चित्त तथा उसमें निहित विचारों के अध्ययन को स्वाध्याय कहते हैं।

'स्वाध्यायदिष्ट देवता संप्रयोगः।'[19]

अर्थात् स्वाध्याय में निष्ठा प्राप्त होने पर अपने इष्ट देव के दर्शन हो जाते हैं।

'देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति, कार्येचास्य वर्तन्त इति।।'[20]

व्यास के अनुसार जिन–जिन देवताओं, ऋषियों तथा सिद्धों के योगी दर्शन करना चाहें, वे देव ऋषि तथा सिद्ध पुरूष उसे दर्शन देते हैं। जिस कार्य के लिए योगी प्रार्थना करते हैं तो उसे पूरा करते हैं।

व्याय ने स्वाध्याय का विस्तार से वर्णन इस प्रकार किया हैं –

'स्वाध्यायः प्रणवादि पवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा।'[21]

अर्थात् स्वाध्याय का अर्थ है स्व – अपने बारे में अध्ययन करना – मैं कौन हूँ, क्या हूँ, कहाँ से आया हूँ, इस प्रकार का चिन्तन अपने बारे में करना। चित्त को संसार मार्ग से हटा कर, मोक्ष मार्ग की तरफ प्रवृत्त करने वाले शास्त्रों का अध्ययन तथा भगवत् नाम का जाप स्वाध्याय है।

---

14 श्रीमद् भगवद्गीता, 17/14

15 (क) तपः शब्देन चात्रहितमित मेध्या शित्वं न तु कायाशन–
त्वमुपवास परक कृच्छ् चान्द्रायणादिभिः शरीर शोषणं च उपवासाभ्यासे धातु वैषम्यापात सम्भवात्। योग प्रदीपिका, पृ० 24
(ख) तावन्मात्रमेव तपश्चरणीय पावता च धातु वैषम्यमापद्येत।
योगप्रदीपिका, पृ० 24

16 योग सिद्धान्त चन्द्रिका, पृ० 49

17 भगवद्गीता, 17/17
''श्रद्धया परया तप्तं तपस्त्रिविधं नरैः
अफलाकाङक्षिभिर्युक्तैः सात्विकं पारिचक्षते।।

18 योग सूत्र, 2/43

19 योग सूत्र, 2/44

20 व्यास भाष्य, 2/44

21 व्यास भाष्य, 2/21

'पवित्राणां पापक्षय हेतुनाम्।'[22]

अर्थात् पापों को क्षीण करने वाले पवित्र ग्रन्थों का जप करना स्वाध्याय है।
'स्वाध्याय उपनिषदाद्यवृतिः।'[23]
नारायण तीर्थ ने उपनिषद् आदि ग्रन्थों की आवृत्ति को स्वाध्याय कहा है।

ईश्वर प्रणिधान

तप के द्वारा चित्त को नियन्त्रित रखने तथा स्वाध्याय द्वारा ईश्वर की महिमा समझने के पश्चात् साधक की ईश्वर प्रणिधान में प्रवृत्ति होती है।

पतञ्जलि के अनुसार –
'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।'[24]

अर्थात् ईश्वर प्रणिधानं सं समाधि सिद्ध होती है। सब कर्म ईश्वर को अर्पित करने से सम्प्रजात समाधि की सिद्धि होती है।

'ईश्वरार्पित सर्वभावस्य समाधिसिद्धिर्यथा।
सर्वमीप्सितमवितथं जानाति देशान्तरे देहान्तरे कालान्तरे च।।'[25]

व्यास के अनुसार जिसने अपने सब कर्मों को ईश्वर में अर्पण कर दिया है ऐसे योगी को समाधि की सिद्धि 'समाधि प्रज्ञा' प्राप्त होती है। जिसके द्वारा वह कालान्तर में, देशान्तर में, देहान्तर में विद्यमान सब अभीष्ट पदार्थों को वह यथार्थ रूप से जानता है।

'ईश्वर प्रणिधानं तस्मिन्परमगुरौ सर्वकर्मार्थणम्।'[26]

अर्थात् अपने सभी कर्मों को फल की इच्छा किए बिना ईश्वर को अर्पण करना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है। यह ईश्वर की ऐसी भक्ति है जिसमें भक्त मन, शरीर, इन्द्रिय, प्राणादि के कर्मों, फल सहित अपने सम्पूर्ण जीवन को ईश्वर को समर्पित कर देता है।[27]

'कर्मफलानामीश्वरो भोक्तेति चिन्तनं कर्मफल सन्यासः।'[28]

सभी प्रकार के कर्म जन्म फलों का भोक्ता ईश्वर है। इस प्रकार का चिन्तन ईश्वर प्रणिधान है। इस ईश्वर प्रणिधान से शीघ्र ही समाधि की सिद्धि होती है। इस प्रकार व्यक्तिगत आचार के रूप में पाँच नियमों का वर्णन किया गया है जो कि साधक के लिए परमावश्यक हैं। इन नियमों के बिना साधक अपनी योग–साधना में प्रवृत्त नहीं हो पाता।

---

[22] योग वार्तिक, पृ० 138
[23] योग सिद्धान्त चन्द्रिका, पृ० 49
[24] योग सूत्र, 2/45
[25] व्यास भाष्य, 2/45
[26] व्यास भाष्य, पृ० 248
[27] योग वार्तिक, पृ० 140
[28] योग वार्तिक, पृ० 139